प्रेम नाथ कौल

बनाम

जम्मू और कश्मीर राज्य

(एस. आर. दास, सी. जे., एस. के. दास, पी. बी. गजेंद्रगढ़काब,
के.एन. वांचू और एम. हिदायतुल्ला, जे.जे.)

ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन–अधिनियम की वैधता–युवराज करण सिंह की विधायी सक्षमता–जम्मू और कश्मीर बड़ी ज़मींदारी उन्मूलन अधिनियम, XVII/2007.

इस अपील में जम्मू और कश्मीर बिग लैंडेड एस्टेट एबोलिशन एक्ट, 2007 के XVII की वैधता को चुनौती दी गई थी। यह एक्ट युवराज करण सिंह ने 17 अक्टूबर, 1950 को, जम्मू और कश्मीर संविधान एक्ट 14, 1996 (1930) की धारा 5 के तहत उन्हें मिली शक्तियों का इस्तेमाल करते हुए बनाया था। साथ ही, महाराजा हरि सिंह ने 20 जून, 1949 को एक अंतिम घोषणा जारी की थी, जिसके द्वारा उन्होंने अपनी सभी शक्तियाँ और कार्य युवराज को सौंप दिए थे। इस एक्ट का उद्देश्य बड़े ज़मींदारी एस्टेट्स को खत्म करके और ज़मीन को असल खेती करने वालों को सौंपकर कृषि उत्पादन को बेहतर बनाना था। जिस मुकदमे से यह अपील निकली है, उसे अपीलकर्ता ने एक प्रतिनिधि के तौर पर दायर किया था। इसमें उसने यह घोषणा करवाने की मांग की थी कि यह एक्ट अमान्य, अप्रभावी और अधिकार-क्षेत्र से बाहर (ultra vires) है, और उसे अपनी ज़मीनों पर शांतिपूर्ण कब्ज़ा बनाए रखने का अधिकार है। ट्रायल कोर्ट और अपील में हाई कोर्ट, दोनों ने ही उसके खिलाफ फैसला सुनाया और मुकदमे को खारिज कर दिया। इसलिए, विशेष अनुमति (special leave) के तहत यह अपील दायर की गई है।

इस अधिनियम की वैधता को मुख्य रूप से इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि युवराज करण सिंह के पास इस अधिनियम को लागू करने का कोई अधिकार नहीं था। यह तर्क दिया गया था कि (1) जब महाराजा हरि सिंह ने 20 जून, 1949 की अपनी घोषणा के द्वारा अपनी शक्तियाँ युवराज को हस्तांतरित की थीं, तब वे स्वयं एक संवैधानिक सम्राट थे और उससे अधिक उच्च शक्तियाँ हस्तांतरित नहीं कर सकते थे, (2) उक्त घोषणा युवराज को उसमें निर्दिष्ट शक्तियाँ प्रदान नहीं कर सकती थी, (3) युवराज की शक्तियाँ 25 नवंबर, 1949 को स्वयं उनके द्वारा जारी की गई एक घोषणा से काफी हद तक सीमित हो गई थीं, जिसके द्वारा उन्होंने अपने राज्य में भारत के संविधान को (जो शीघ्र ही उसकी संविधान सभा द्वारा अपनाया जाने वाला था) उस सीमा तक लागू करने का प्रयास किया था, जिस सीमा तक वह लागू हो सकता था, (4) जम्मू-कश्मीर राज्य पर भारत के संविधान के कुछ निर्दिष्ट अनुच्छेदों (जिनमें अनुच्छेद 370 भी शामिल था) के लागू होने के परिणामस्वरूप, युवराज बिना किसी विधायी अधिकार या शक्तियों के एक संवैधानिक सम्राट बन गए थे, और (5) राज्य की संविधान सभा का यह निर्णय कि कोई मुआवज़ा नहीं दिया जाएगा, अमान्य था, क्योंकि वह सभा स्वयं ही विधिवत गठित नहीं थी।

यह निर्णय दिया गया कि जब युवराज करण सिंह ने इस अधिनियम को प्रख्यापित किया था, तब उन्हें ऐसा करने का अधिकार प्राप्त था और इसकी वैधता पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता था।

यह बात निर्विवाद थी कि स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के पारित होने से पहले, महाराजा हरि सिंह, अपने पूर्ववर्तियों की तरह, अपने राज्य के आंतरिक प्रशासन के मामले में एक पूर्ण संप्रभु शासक थे। महाराजा द्वारा जारी किए गए विनियमन 1/1991 (1934) की धारा 3 ने न केवल उनकी पहले से मौजूद सभी शक्तियों को सुरक्षित रखा, बल्कि यह भी प्रावधान किया कि कोई भी विनियमन, उद्घोषणा या अध्यादेश बनाने का उनका अंतर्निहित अधिकार अप्रभावित रहेगा। उनके द्वारा प्रख्यापित संविधान अधिनियम 14/1996 (1939) ने इस स्थिति में कोई बदलाव नहीं किया। उस अधिनियम की धारा 4 और 5 ने उन सभी शक्तियों को सुरक्षित रखा जो उनके पास विनियमन 1/1991 की धारा 3 के तहत थीं, और धारा 72 ने उनकी अंतर्निहित शक्तियों को सुरक्षित रखा, ताकि वे वैसे ही पूर्ण संप्रभु शासक बने रहें जैसे वे पहले थे।

स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के पारित होने के साथ ही ब्रिटिश सर्वोच्चता के समाप्त हो जाने पर, महाराजा एक पूर्ण सम्राट के रूप में बने रहे–बशर्ते कि वे अधिनियम की धारा 7 के नियम द्वारा सुरक्षित रखे गए समझौतों के अधीन हों–और अंतर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से, वे संभवतः एक स्वतंत्र संप्रभु का दर्जा प्राप्त करने का दावा कर सकते थे।

यह कहना तर्कहीन था कि 25 अक्टूबर, 1947 को महाराजा द्वारा हस्ताक्षरित 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' के प्रावधानों ने उनकी संप्रभुता को प्रभावित किया; विशेष रूप से इसके खंड 6 को देखते हुए, जिसमें स्पष्ट रूप से उनके राज्य के भीतर और उस पर उनकी संप्रभुता की निरंतरता को मान्यता दी गई थी।

इस तर्क में कोई दम नहीं था कि 5 मार्च, 1948 को जारी उनकी घोषणा के परिणामस्वरूप– जिसने आपातकालीन प्रशासन की जगह शेख मोहम्मद अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली एक लोकप्रिय अंतरिम सरकार स्थापित की थी और एक मंत्रिपरिषद का गठन किया था जिसे कैबिनेट के रूप में काम करना था–महाराजा एक संवैधानिक सम्राट बन गए थे। कैबिनेट को अभी भी संविधान अधिनियम 14/1996 (1939) के तहत, महाराजा की सर्वोच्च शक्तियों के अधीन ही काम करना था।

इसलिए, जब 20 जून, 1949 को महाराजा ने एक घोषणा जारी करके युवराज को अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग करने के लिए अधिकृत किया–भले ही यह केवल एक अस्थायी अवधि के लिए था–तो इस घोषणा के निरस्त होने तक युवराज उसी स्थिति में आ गए, जिस स्थिति में उनके पिता थे। महाराजा स्वयं एक पूर्ण सत्ताधारी शासक थे, और अपनी शक्तियों को सौंपने (प्रतिनिधायन) की उनकी क्षमता पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता था।

दिल्ली लॉ अधिनियम, 1912, [1951] एस.सी.आर. 747, के मामले का संदर्भ दिया गया। 25 नवंबर, 1949 को युवराज द्वारा जारी की गई उद्घोषणा ने उस संवैधानिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं किया, जो महाराजा द्वारा 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' (विलय-पत्र) पर हस्ताक्षर किए जाने के बाद बनी हुई थी; और न ही यह किसी भी तरह से युवराज के पिता द्वारा उन्हें प्रदान किए गए अधिकार को प्रभावित कर सकती थी।

यह तर्क कि 26 जनवरी, 1950 को राष्ट्रपति द्वारा जारी 'संविधान (जम्मू और कश्मीर पर लागू) आदेश' (सी.ओ. 10) के माध्यम से भारतीय संविधान के कुछ विशिष्ट अनुच्छेदों को राज्य पर लागू किए जाने से युवराज की संप्रभु शक्तियों पर प्रभाव पड़ा था, सही नहीं था।

न तो अनुच्छेद 370 की योजना और न ही उस अनुच्छेद के खंड (1) की व्याख्या में यह परिकल्पना की गई थी कि महाराजा एक संवैधानिक शासक होंगे। उस अनुच्छेद के अस्थायी

प्रावधान इस धारणा पर आधारित थे कि भारत और राज्य के बीच अंतिम संबंध का निर्धारण स्वयं राज्य की संविधान सभा द्वारा किया जाना चाहिए। इसलिए, उस अनुच्छेद का उद्देश्य, न तो स्पष्ट रूप से और न ही निहित रूप से, महाराजा की पूर्ण विधायी शक्तियों को सीमित करना हो सकता था। अतः, जब तक राज्य की संविधान सभा अपना निर्णय नहीं ले लेती, तब तक 'विलय-पत्र' ही प्रभावी रहेगा।

अनुच्छेद 385 का प्रारंभिक औपचारिक अनुप्रयोग–जिसे बाद में राज्य पर लागू होने वाले अनुच्छेदों की सूची से हटा दिया गया था–इस निष्कर्ष को सही नहीं ठहरा सका कि इसने युवराज की विधायी शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला था।

इस तर्क में कोई दम नहीं था कि संविधान सभा का मुआवज़ा न देने का फ़ैसला अमान्य था, क्योंकि सभा को ही ठीक से बुलाया या गठित नहीं किया गया था। इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि युवराज 20 अप्रैल, 1951 का घोषणापत्र जारी करने के लिए पूरी तरह सक्षम थे–जो महाराजा के घोषणापत्र से अलग था–और जिसके तहत अंततः सभा का गठन किया गया था; इसलिए सभा को विधिवत बुलाया गया था।

सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार: सिविल अपील संख्या 152/1955.

सिविल प्रथम अपील संख्या 4/2009 जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय के दिनांक 25 मार्च, 1953 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष अनुमति द्वारा अपील।

अपीलकर्ताओं की ओर से अधिवक्तागण - एन. सी. चटर्जी, गोपी नाथ कुंजरू और नौनित लाल।

उत्तरदाताओं की ओर से अधिवक्तागण - एच.एन. सान्याल, अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल, भारत; जसवंत सिंह एडवोकेट जनरल, जम्मू और कश्मीर राज्य; आर. एच. धेबर और टी. एम. सेन।

2 मार्च,1959 कोर्ट का फैसला सुनाया गया

गजेंद्रगडकर, जे. - विशेष अनुमति से दायर यह अपील, अपीलकर्ता द्वारा जम्मू और कश्मीर राज्य के विरुद्ध प्रतिनिधि की हैसियत से दायर एक वाद (दीवानी वाद सं. 4/2008) से उत्पन्न हुई है; इस वाद में यह घोषणा किए जाने की प्रार्थना की गई है कि 'जम्मू और कश्मीर बड़ी भू-संपदा उन्मूलन अधिनियम, 2007 का अधिनियम XVII' (जिसे इसके बाद 'अधिनियम' कहा गया है) शून्य, अप्रभावी और युवराज करण सिंह के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है, जिन्होंने इसे अधिनियमित किया था; साथ ही, यह अतिरिक्त घोषणा किए जाने की भी प्रार्थना की गई है कि अपीलकर्ता अपनी भूमि पर शांतिपूर्ण कब्ज़ा बनाए रखने का हकदार है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस अधिनियम की वैधता को, इसी प्रकार, मघर सिंह द्वारा जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय के मूल पक्ष में दायर एक वाद (सिविल वाद संख्या 59/2007) के माध्यम से चुनौती दी गई थी; और न्यायमूर्ति किलम्, जिन्होंने उक्त वाद की सुनवाई की थी, ने वादी के तर्कों को अस्वीकार करते हुए यह निर्णय दिया कि यह अधिनियम वैध है।

जब अपीलकर्ता का मुकदमा ट्रायल के लिए डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के सामने आया, तो उसकी ओर से यह मान लिया गया कि एक्ट की वैधता के खिलाफ उसके द्वारा उठाए गए मुद्दों पर जस्टिस किलैम पहले ही फैसला दे चुके हैं, और उस फैसले को देखते हुए, अपीलकर्ता डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के सामने अब और कुछ भी कहना उसके लिए फ़ायदेमंद नहीं होगा। माननीय डिस्ट्रिक्ट जज, जो जस्टिस किलैम के फैसले से बंधे हुए थे, उन्होंने उस फैसले को अपने सामने चल रहे मुकदमे पर लागू किया और यह माना कि एक्ट वैध है और अपीलकर्ता उन दो घोषणाओं का हकदार नहीं है, जिनकी उसने मांग की थी। नतीजतन, अपीलकर्ता का मुकदमा खारिज कर दिया गया।

इस आदेश के विरुद्ध अपीलकर्ता ने जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय में एक अपील दायर की (सिविल अपील संख्या 4, 2009)। मघर सिंह, जिनका वाद न्यायमूर्ति किलम् द्वारा खारिज कर दिया गया था, उन्होंने भी उच्च न्यायालय के समक्ष एक अपील (संख्या 29, 2008) दायर की थी। इन दोनों अपीलों की सुनवाई उच्च न्यायालय की एक खंडपीठ द्वारा एक साथ की गई, जिसने यह निर्णय दिया कि यह अधिनियम वैध है और अपीलकर्तागण उस घोषणा को प्राप्त करने के हकदार नहीं हैं, जिसकी उन्होंने मांग की थी। तदनुसार, दोनों अपीलें खारिज कर दी गईं।

हाई कोर्ट द्वारा पारित उस आदेश के विरुद्ध, जिसमें उसकी अपील खारिज कर दी गई थी, अपीलकर्ता ने हाई कोर्ट में इस न्यायालय में अपील करने की अनुमति के लिए आवेदन किया। हालाँकि, उक्त आवेदन खारिज कर दिया गया। इसके बाद, अपीलकर्ता ने इस न्यायालय में अपील करने के लिए विशेष अनुमति हेतु आवेदन किया और उसे यह अनुमति प्राप्त हो गई।

इस अपील पर विचार करते समय, उस विवादित कानून की पृष्ठभूमि को पूरी तरह से समझने के लिए, कश्मीर में हुई घटनाओं और उनके बाद हुए संवैधानिक बदलावों का कुछ विस्तार से वर्णन करना ज़रूरी है। इस पृष्ठभूमि की स्पष्ट समझ हमें अपीलकर्ता के मामले को सही परिप्रेक्ष्य में देखने में मदद करेगी। 1925 में, महाराजा हरि सिंह ने महाराजा प्रताप सिंह के उत्तराधिकारी के रूप में कश्मीर की गद्दी संभाली। ऐसा प्रतीत होता है कि 1934 से कुछ समय

पहले तक, कश्मीर में एक ज़िम्मेदार सरकार की स्थापना के लिए जनता द्वारा आंदोलन किया जा रहा था। संभवतः इसी आंदोलन के परिणामस्वरूप, महाराजा हरि सिंह ने विनियमन 1/1991 (1934) जारी किया। इस विनियमन की शुरुआत एक नीतिगत बयान से हुई, जिसमें यह घोषित किया गया था कि महाराजा का स्पष्ट उद्देश्य अपने राज्य की प्रजा को कानून बनाने और राज्य के प्रशासन में शामिल होने का अवसर प्रदान करना है, और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह विनियमन जारी किया जा रहा है। इस विनियमन में 46 धाराएँ थीं, जिनमें स्वयं महाराजा की विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों का वर्णन किया गया था; उन विषयों का उल्लेख किया गया था जिन्हें इस विनियमन के दायरे से बाहर (आरक्षित) रखा जाना था; राज्य की विधायिका के गठन का प्रावधान किया गया था; परिषद को विशिष्ट उद्देश्यों के लिए नियम बनाने का अधिकार दिया गया था; और अन्य प्रासंगिक तथा महत्वपूर्ण विषयों का भी उल्लेख किया गया था। इस विनियमन की केवल दो धाराओं का उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक है। धारा 3 में यह प्रावधान है कि राज्य और उसकी सरकार से संबंधित समस्त विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियाँ, एतद्द्वारा जम्मू और कश्मीर के महाराजा (हिज़ हाइनेस) में निहित घोषित की जाती हैं, और यह भी घोषित किया जाता है कि ये शक्तियाँ सदैव से उन्हीं के पास रही हैं और उन्हीं द्वारा धारण तथा संरक्षित की गई हैं। साथ ही, इस विनियमन में निहित कोई भी बात, महाराजा की उन अंतर्निहित शक्तियों के आधार पर नियम, उद्घोषणाएँ और अध्यादेश बनाने तथा पारित करने के अधिकार और विशेषाधिकार को प्रभावित नहीं करेगी, और न ही ऐसा माना जाएगा कि उसने इन अधिकारों को प्रभावित किया है। धारा 30 में यह निर्धारित किया गया है कि किसी भी प्रस्ताव (measure) को 'प्रजा सभा' द्वारा पारित तब तक नहीं माना जाएगा, जब तक कि महाराजा (हिज़ हाइनेस) उस पर अपनी सहमति न दे दें। यह विनियमन महाराजा (हिज़ हाइनेस) के पूर्ण विवेक पर छोड़ देता है कि वे ऐसे किसी प्रस्ताव पर अपनी सहमति दें या न दें।

पांच साल बाद महाराजा ने जम्मू और कश्मीर संविधान अधिनियम 14/1996 (1939) लागू किया। इस संविधान की प्रस्तावना से ऐसा लगता है कि, इसे लागू करने से पहले, महाराजा ने 11 फरवरी, 1939 को एक घोषणा जारी की थी, जिसमें उन्होंने उन आगे के कदमों के बारे में अपने फैसले की घोषणा की थी, जो उनकी प्रजा को राज्य की कार्यपालिका और विधायिका के बीच सक्रिय सहयोग के आदर्श को प्राप्त करने की दिशा में व्यवस्थित प्रगति करने में सक्षम

बनाने के लिए उठाए जाने थे, ताकि लोगों को अधिकतम खुशी मिल सके। इस इच्छा के अनुसार, विनियमन 1/1991 में निहित संविधान के मूल पाठ में पूरी तरह से संशोधन किया गया और संशोधित पाठ को अपनी तरह के अन्य समान संविधानों के अनुरूप लाने का प्रयास किया गया। यह संविधान छह भागों में विभाजित है और इसमें 78 धाराएँ शामिल हैं। **भाग 1** परिचयात्मक है। **भाग 2** कार्यपालिका से संबंधित है; **भाग 3** विधायिका से; **भाग 4** न्यायपालिका से; **भाग 5** में विविध प्रावधान शामिल हैं; और **भाग 6** में निरसन और बचाव का प्रावधान है तथा इसमें संक्रमणकालीन प्रावधान शामिल हैं। यह महत्वपूर्ण है कि इस अधिनियम की धारा 5, पहले के विनियमन की धारा 3 की तरह ही, 'हिज़ हाइनेस' (महाराजा) की सभी अंतर्निहित शक्तियों को मान्यता देती है और उन्हें सुरक्षित रखती है, जबकि धारा 4 यह प्रावधान करती है कि राज्य का शासन 'हिज़ हाइनेस' द्वारा और उनके नाम पर किया जाएगा, और राज्य के शासन से संबंधित या उसके लिए आवश्यक सभी अधिकार, सत्ता और क्षेत्राधिकार 'हिज़ हाइनेस' द्वारा प्रयोग किए जा सकते हैं, सिवाय उन मामलों के जहाँ इस अधिनियम द्वारा या इसके तहत अन्यथा प्रावधान किया गया हो, या जहाँ 'हिज़ हाइनेस' द्वारा अन्यथा निर्देश दिया गया हो। अधिनियम के अन्य सभी प्रावधान, धारा 5 द्वारा विशेष रूप से सुरक्षित रखी गई 'हिज़ हाइनेस' की सर्वोपरि शक्तियों के अधीन हैं। जैसा कि हम बाद में बताएंगे, मूल रूप से वर्तमान अधिनियम के तहत महाराजा की संवैधानिक शक्तियाँ बिल्कुल वैसी ही थीं जैसी पहले के अधिनियम के तहत थीं।

जब जम्मू और कश्मीर राज्य पर महाराजा का शासन था और समय-समय पर संशोधित दूसरा संविधान लागू था, तब भारत में राजनीतिक घटनाएँ बहुत तेज़ी से घट रही थीं और उनका परिणाम 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947' के पारित होने के रूप में सामने आया। इस अधिनियम की धारा 7 (1) (बी) के तहत, भारतीय राज्यों पर महामहिम की सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो गई; और इसके साथ ही, अधिनियम के पारित होने की तारीख को महामहिम और भारतीय राज्यों के शासकों के बीच लागू सभी संधियाँ और समझौते समाप्त हो गए; उस तारीख को भारतीय राज्यों या उनके शासकों के प्रति महामहिम के सभी दायित्व समाप्त हो गए; और उस तारीख को संधि, अनुदान, प्रथा, अनुमति या किसी अन्य माध्यम से भारतीय राज्यों में या उनके संबंध में महामहिम द्वारा प्रयोग किए जाने वाले सभी अधिकार, हक, सत्ता या क्षेत्राधिकार समाप्त हो गए। हालाँकि, उक्त धारा के नियम में यह निर्धारित किया गया था कि, पैरा (बी) में किसी भी बात के होते हुए भी, नियम में सूचीबद्ध विषयों या अन्य समान मामलों के संबंध

में, उसमें संदर्भित किसी भी ऐसे समझौते के प्रावधानों को, जहाँ तक संभव हो, तब तक लागू रखा जाएगा, जब तक कि संबंधित प्रावधानों को एक ओर भारतीय राज्य के शासक द्वारा, या दूसरी ओर संबंधित डोमिनियन या प्रांत द्वारा रद्द न कर दिया जाए, अथवा उन्हें बाद के समझौतों द्वारा प्रतिस्थापित न कर दिया जाए। इस प्रकार, ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता (paramountcy) के समाप्त होने के साथ ही, जम्मू और कश्मीर राज्य–अन्य भारतीय राज्यों की ही तरह–सैद्धांतिक रूप से उक्त सर्वोच्च सत्ता द्वारा लगाई गई सीमाओं से मुक्त हो गया; हालाँकि यह मुक्ति, अभी-अभी उल्लिखित नियम के प्रावधानों के अधीन थी।

22 अक्टूबर, 1947 को, कबाइली हमलावरों ने रियासत के इलाके पर हमला कर दिया; और इस हमले ने महाराजा के सामने एक ऐसी गंभीर समस्या खड़ी कर दी, जिसकी पहले कभी कल्पना भी नहीं की गई थी। हमलावर कबाइली जैसे-जैसे आगे बढ़ रहे थे, रियासत की सुरक्षा खुद ही गंभीर खतरे में पड़ गई थी; और ऐसा लगने लगा था कि अगर हमलावरों की इस बढ़त को सफलतापूर्वक रोका नहीं गया, तो वे जल्द ही श्रीनगर के दरवाज़ों तक पहुँच जाएँगे। आक्रामकता की इस घटना ने राजनीतिक घटनाओं की एक ऐसी शृंखला शुरू कर दी, जिसने अंततः कश्मीर के इतिहास और राजनीतिक ढाँचे को अप्रत्याशित गति से बदल दिया।

25 अक्टूबर, 1947 को महाराजा ने भारत के साथ 'विलय-पत्र' (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर किए, जो उस समय एक स्वतंत्र डोमिनियन बन चुका था। इस विलय-पत्र की पहली धारा के तहत महाराजा ने यह घोषणा की कि उन्होंने भारत के डोमिनियन में इस आशय के साथ विलय किया है कि भारत के गवर्नर-जनरल, डोमिनियन की विधायिका, संघीय न्यायालय और डोमिनियन के उद्देश्यों के लिए स्थापित कोई भी अन्य डोमिनियन प्राधिकरण–इस विलय-पत्र के आधार पर, और इसकी शर्तों के अधीन रहते हुए तथा केवल डोमिनियन के उद्देश्यों के लिए–जम्मू और कश्मीर राज्य के संबंध में उन कार्यों का निर्वहन करेंगे, जो उन्हें 'भारत सरकार अधिनियम, 1935' (जैसा कि 15 अगस्त, 1947 को भारत के डोमिनियन में लागू था) के तहत या उसके द्वारा सौंपे गए हों।

हम इस दस्तावेज़ के कुछ अन्य प्रासंगिक खंडों का भी संदर्भ ले सकते हैं। खंड 3 के अनुसार, महाराजा इस बात पर सहमत हुए कि विलय-पत्र के साथ संलग्न अनुसूची में निर्दिष्ट विषय वे विषय थे जिनके संबंध में डोमिनियन विधानमंडल इस राज्य के लिए कानून बना सकता था। खंड 5 में यह प्रावधान है कि इस दस्तावेज़ में भारत सरकार अधिनियम, 1935, या भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 में किसी भी संशोधन द्वारा कोई बदलाव नहीं किया जाएगा, जब तक कि ऐसा संशोधन महाराजा द्वारा मूल विलय-पत्र के पूरक एक अन्य दस्तावेज़ के माध्यम से स्वीकार न कर लिया जाए। खंड 7 के अनुसार, इस बात पर सहमति बनी कि महाराजा को भारत के किसी भी भविष्य के संविधान को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं माना जाएगा, और न ही ऐसे किसी भविष्य के संविधान के तहत भारत सरकार के साथ समझौते करने के उनके विवेकाधिकार पर कोई रोक लगाई जाएगी। खंड 8 अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है कि इस दस्तावेज़ की कोई भी बात महाराजा की अपने राज्य के भीतर और उस पर संप्रभुता की निरंतरता को प्रभावित नहीं करती है; और न ही–सिवाय उन मामलों के जो इस दस्तावेज़ द्वारा या इसके तहत प्रावधानित हैं–यह राज्य के शासक के रूप में उस समय उनके द्वारा उपभोग की जा रही किसी भी शक्ति, अधिकार और हकों के प्रयोग को, अथवा उस समय राज्य में लागू किसी भी कानून की वैधता को प्रभावित करती है। इस दस्तावेज़ के साथ संलग्न अनुसूची में चार विषयों का उल्लेख है: रक्षा, विदेश मामले, संचार और सहायक विषय; और इन विषयों के अंतर्गत बीस ऐसे मामलों को क्रमवार सूचीबद्ध किया गया है जिनके संबंध में डोमिनियन विधानमंडल के पास इस राज्य के लिए कानून बनाने की शक्ति थी। इस प्रकार, विलय-पत्र के माध्यम से, महाराजा ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए एक अत्यंत महत्वपूर्ण कदम उठाया कि उनका राज्य 'डोमिनियन ऑफ़ इंडिया' (भारत अधिराज्य) का एक अभिन्न अंग था।

इस बीच, राज्य पर हुए आक्रमण ने इस आक्रामकता का विरोध करने के लिए लोगों में ज़बरदस्त जोश और देशभक्ति की भावना पैदा कर दी थी। लोगों की इस भावना ने स्वाभाविक रूप से महाराजा पर दबाव डाला कि वे राज्य में एक ज़िम्मेदार और लोकप्रिय सरकार की स्थापना करें। महाराजा ने 5 मार्च, 1948 को एक घोषणा जारी करके लोगों की इस माँग को शांत करने की कोशिश की। इस घोषणा में उन्होंने कहा कि अपने राजवंश की परंपराओं के अनुसार, उन्होंने समय-समय पर अपने लोगों को राज्य के प्रशासन में अधिक से अधिक शामिल करने के उपाय किए हैं, ताकि जल्द से जल्द एक पूर्ण रूप से ज़िम्मेदार सरकार का लक्ष्य हासिल किया जा

सके। उन्होंने यह भी कहा कि अब तक हुई प्रगति और अपने लोगों की इस जायज़ इच्छा को देखकर उन्हें बहुत खुशी और गर्व हुआ है कि जल्द से जल्द एक पूर्ण लोकतांत्रिक संविधान लागू किया जाए। यह संविधान वयस्क मताधिकार पर आधारित होगा, और इसमें उनके ही राजवंश का कोई वंशानुगत शासक, कार्यपालिका के संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करेगा, जो विधायिका के प्रति जवाबदेह होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस घोषणा के जारी होने से पहले ही, महाराजा ने शेख मोहम्मद अब्दुल्ला को–जो उस समय लोगों के एक लोकप्रिय नेता थे– आपातकालीन प्रशासन का प्रमुख नियुक्त कर दिया था। इस घोषणा के माध्यम से, महाराजा ने आपातकालीन प्रशासन को हटाकर उसकी जगह एक लोकप्रिय अंतरिम सरकार की स्थापना की, और जब तक पूर्ण लोकतांत्रिक संविधान तैयार नहीं हो जाता, तब तक के लिए उस सरकार के अधिकार, कर्तव्य और कार्य निर्धारित किए। घोषणा के खंड 1 में मंत्रिमंडल के गठन का प्रावधान है, जबकि खंड 2 के अनुसार, प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों को एक मंत्रिमंडल (कैबिनेट) के रूप में कार्य करना होगा और 'सामूहिक उत्तरदायित्व' के सिद्धांत का पालन करना होगा। महाराजा द्वारा नियुक्त एक 'दीवान' भी इस मंत्रिमंडल का सदस्य होगा। खंड 4 में यह प्रावधान है कि जैसे ही राज्य में सामान्य स्थिति पूरी तरह से बहाल हो जाएगी, मंत्रिमंडल (मंत्रिपरिषद) द्वारा उचित कदम उठाए जाएँगे ताकि वयस्क मताधिकार पर आधारित एक 'राष्ट्रीय सभा' (National Assembly) का आयोजन किया जा सके। इस राष्ट्रीय सभा के गठन में इस सिद्धांत का पूरा ध्यान रखा जाएगा कि प्रत्येक मतदान क्षेत्र से चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या, जहाँ तक संभव हो, उस क्षेत्र की जनसंख्या के अनुपात में ही हो। खंड 5 में यह निर्धारित किया गया है कि राष्ट्रीय सभा द्वारा तैयार किए जाने वाले संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए पर्याप्त सुरक्षा-उपायों का समावेश होगा, और उसमें अंतरात्मा की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सभा करने की स्वतंत्रता की गारंटी देने वाले उचित प्रावधान शामिल होंगे। खंड 6 में यह कहा गया है कि जब राष्ट्रीय सभा द्वारा संविधान निर्माण का कार्य पूरा हो जाएगा, तब उस संविधान को मंत्रिमंडल के माध्यम से महाराजा के समक्ष उनकी स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जाएगा। इस घोषणा का समापन इस आशा के साथ हुआ कि एक लोकप्रिय अंतरिम सरकार का गठन और निकट भविष्य में पूरी तरह से लोकतांत्रिक संविधान का शुभारंभ, राज्य की जनता की संतुष्टि, खुशी तथा नैतिक और भौतिक उन्नति को सुनिश्चित

करेगा। यद्यपि इस घोषणा के तहत एक लोकप्रिय अंतरिम सरकार का गठन किया गया था, फिर भी संवैधानिक स्थिति यह थी कि सैद्धांतिक रूप से इस लोकप्रिय सरकार को 1939 के संविधान के अंतर्गत ही कार्य करना था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लोकप्रिय सरकार के सत्तासीन होने से पूर्व ही, महाराजा ने राज्य के चार प्रतिनिधियों को भारत का संविधान बनाने हेतु 'डोमिनियन ऑफ़ इंडिया' में बुलाई गई संविधान सभा में राज्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त कर दिया था।

जब लोकप्रिय अंतरिम सरकार ने काम करना शुरू किया, तो राज्य में राजनीतिक घटनाएँ तेज़ी पकड़ने लगीं और जनता जल्द से जल्द एक लोकतांत्रिक संविधान बनाने की ज़ोरदार माँग करने लगी। जब राज्य में माहौल इस तरह पूरी तरह से राजनीतिक सरगर्मी से भर गया, तो महाराजा ने 20 जून, 1949 को अपनी अंतिम घोषणा जारी की। इस घोषणा के द्वारा उन्होंने राज्य के शासन से संबंधित अपनी सभी शक्तियाँ और कार्य युवराज करण सिंह बहादुर को सौंप दिए, क्योंकि उन्होंने स्वास्थ्य कारणों से कुछ समय के लिए राज्य छोड़ने का फ़ैसला कर लिया था। घोषणा में कहा गया है, "अतः अब मैं इसके द्वारा यह निर्देश देता हूँ और घोषणा करता हूँ कि राज्य और उसकी सरकार के संबंध में मेरे द्वारा प्रयोग की जाने वाली सभी शक्तियाँ और कार्य–चाहे वे विधायी हों, कार्यकारी हों या न्यायिक–जिनमें विशेष रूप से कानून बनाने, घोषणाएँ, आदेश और अध्यादेश जारी करने, या सज़ाओं को माफ़ करने, कम करने या घटाने, और अपराधियों को क्षमादान देने का मेरा अधिकार और विशेषाधिकार शामिल है–राज्य से मेरी अनुपस्थिति की अवधि के दौरान युवराज करण सिंह बहादुर द्वारा प्रयोग किए जाएँगे।" जैसा कि बाद की घटनाओं से स्पष्ट होता है, राज्य छोड़ने से पहले महाराजा का यह अंतिम आधिकारिक कार्य था।

युवराज करण सिंह के महाराजा का स्थान लेने और उक्त घोषणा द्वारा उन्हें सौंपी गई शक्तियों के तहत कार्य शुरू करने के बाद, पहले स्थापित की गई अंतरिम लोकप्रिय सरकार पहले की तरह ही कार्य कर रही थी। 25 नवंबर, 1949 को, युवराज करण सिंह ने एक घोषणा जारी की, जिसके द्वारा उन्होंने यह घोषित और निर्देशित किया कि भारत की संविधान सभा द्वारा शीघ्र ही अपनाए जाने वाला भारत का संविधान–जहाँ तक यह जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू होता है–राज्य और भारत के प्रस्तावित संघ के बीच संवैधानिक संबंधों को नियंत्रित करेगा, और

इसे राज्य में उनके, उनके उत्तराधिकारियों और वारिसों द्वारा इसके प्रावधानों के अनुरूप लागू किया जाएगा। उन्होंने यह भी घोषित किया कि उक्त संविधान के प्रावधान, इसके लागू होने की तारीख से, राज्य में उस समय लागू अन्य सभी असंगत संवैधानिक प्रावधानों का स्थान ले लेंगे और उन्हें निरस्त कर देंगे। इस घोषणा की प्रस्तावना से पता चलता है कि यह इस विश्वास पर आधारित थी कि राज्य के सर्वोत्तम हितों की यह माँग है कि राज्य और भारत के डोमिनियन के बीच स्थापित संवैधानिक संबंध को राज्य और भारत के प्रस्तावित संघ के बीच भी जारी रखा जाए; और इसमें इस तथ्य का उल्लेख है कि भारत की संविधान सभा–जिसने भारत के संविधान का निर्माण किया था–में राज्य के विधिवत नियुक्त प्रतिनिधि शामिल थे, और यह कि उक्त संविधान ने राज्य और भारत के प्रस्तावित संघ के बीच संवैधानिक संबंधों को जारी रखने के लिए एक उपयुक्त आधार प्रदान किया। 26 जनवरी, 1950 को, भारत का संविधान लागू हुआ।

इस घोषणा के बाद संविधान (जम्मू और कश्मीर पर लागू) आदेश, 1950 (सी. ओ. 10) आया, जिसे 26 जनवरी, 1950 को राष्ट्रपति द्वारा जम्मू और कश्मीर सरकार के परामर्श से और संविधान के अनुच्छेद 370 के खंड (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए जारी किया गया था। यह तत्काल प्रभाव से लागू हो गया। इस आदेश का खंड (2) यह प्रावधान करता है कि संविधान के अनुच्छेद 370 के उप-खंड (i) के प्रयोजनों के लिए, आदेश की पहली अनुसूची में निर्दिष्ट विषय उन विषयों के अनुरूप हैं जो 'अधिमिलन पत्र' (Instrument of Accession) में निर्दिष्ट हैं–वह पत्र जो जम्मू और कश्मीर राज्य के 'भारत अधिराज्य' (Dominion of India) में विलय को नियंत्रित करता है–अर्थात् वे विषय जिनके संबंध में अधिराज्य विधानमंडल उस राज्य के लिए कानून बना सकता है; और तदनुसार, उस राज्य के लिए कानून बनाने की संसद की शक्ति, उक्त पहली अनुसूची में निर्दिष्ट विषयों तक ही सीमित रहेगी। खंड (3) यह प्रावधान करता है कि, संविधान के अनुच्छेद 1 और अनुच्छेद 370 के प्रावधानों के अतिरिक्त, संविधान के केवल वे अन्य प्रावधान ही जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू होंगे जो आदेश की दूसरी अनुसूची में निर्दिष्ट हैं, और वे प्रावधान उक्त अनुसूची में निर्दिष्ट अपवादों और संशोधनों के अधीन ही लागू होंगे। आदेश की पहली अनुसूची में 'संघ सूची' (Union List) में आने वाली 96

मदों को निर्दिष्ट किया गया था; जबकि दूसरी अनुसूची में संविधान के उन अनुच्छेदों को सूचीबद्ध किया गया था जिन्हें अपवादों और संशोधनों सहित उस राज्य पर लागू किया गया था। बाद में, हमें इनमें से कुछ ऐसे अनुच्छेदों का उल्लेख करने का अवसर मिलेगा, जिन पर अपीलकर्ता ने भरोसा किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि, अंतरिम लोकप्रिय सरकार के सत्ता संभालने के बाद, राजस्व मंत्री ने 13 अगस्त, 1950 को गवर्नर के कार्यालय में आयोजित राजस्व अधिकारियों के विशेष कर्मचारियों की एक बैठक में नीति संबंधी एक बयान दिया। मंत्री ने कहा कि चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न हों, कैबिनेट आगे बढ़ने और ज़मीन का मालिकाना हक उसे जोतने वाले को हस्तांतरित करने के लिए दृढ़ संकल्पित है। प्रस्तावित कृषि सुधार के पीछे मुख्य विचार यह था कि किसी भी ज़मींदार के पास 20 एकड़ से अधिक कृषि भूमि नहीं होगी। इसके अतिरिक्त, उसे अपने उपयोग और 'सगज़ार' के लिए 8 कनाल, यदि कोई दूसरा घर मौजूद हो तो उसके लिए 4 कनाल, और 'बेदज़ार' या 'सफ़ेदज़ार' के लिए 10 कनाल भूमि रखने की अनुमति होगी। यह परिकल्पना की गई थी कि उक्त कृषि योजना से संबंधित विवरणों और अन्य अनुषंगी मामलों को निपटाने के लिए एक समिति नियुक्त की जाएगी।

संभवतः अंतरिम कैबिनेट द्वारा अपनाई गई इसी योजना के अनुसरण में, 17 अक्टूबर, 1950 को युवराज करण सिंह द्वारा यह अधिनियम प्रख्यापित किया गया था। अधिनियम की प्रस्तावना से यह स्पष्ट होता है कि इसे इसलिए प्रख्यापित किया गया था, क्योंकि ज़मीन जोतने वाले और राज्य के बीच के बिचौलियों को हटाए बिना कृषि उत्पादन और दक्षता में कोई स्थायी सुधार संभव नहीं था; और इसलिए, कृषि उत्पादन में सुधार के उद्देश्य से, ऐसे ज़मींदारों (मालिकों) का उन्मूलन करना उचित था जिनके पास बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ थीं, और उनकी ज़मीन को वास्तविक जोतने वालों को हस्तांतरित करना आवश्यक था। युवराज ने यह कानून, 1996 के संविधान अधिनियम की धारा 5 के तहत और 20 जून, 1949 को महाराजा हरि सिंह द्वारा जारी उद्घोषणा के तहत उन्हें प्राप्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए बनाया था। इस अधिनियम में 47 धाराएँ हैं, और इसका उद्देश्य ज़मींदारों के स्वामित्व अधिकारों को समाप्त करके और ज़मीन को जोतने वालों को हस्तांतरित करके, तथा अधिनियम की योजना

को लागू करने और उसके तहत उत्पन्न होने वाले सभी आकस्मिक विवादों के निपटारे के लिए एक पूर्ण-स्वतंत्र तंत्र स्थापित करके, राज्य के कृषि उत्पादन में सुधार की अपनी नीति को कार्यान्वित करना है।

इस अपील के उद्देश्य के लिए, हालांकि, कुछ प्रासंगिक धाराओं का उल्लेख करना आवश्यक है, जो मालिकों के अधिकारों की समाप्ति और ज़मीन का जोतने वालों को हस्तांतरण जैसे व्यापक पहलुओं से संबंधित हैं। अधिनियम की धारा 2, अन्य बातों के साथ-साथ, 'ज़मीन', 'मालिक' और 'जोतने वाले' को परिभाषित करती है, जबकि धारा 3 कुछ विशिष्ट ज़मीनों को इस अधिनियम के दायरे से बाहर रखती है। धारा 4, उप-धारा (1) कुछ ज़मीनों में स्वामित्व के अधिकार की समाप्ति का प्रावधान करती है, और यह निर्धारित करती है कि, उस समय लागू किसी भी अन्य कानून में निहित किसी भी बात के बावजूद, उप-धारा (2) में उल्लिखित ज़मीन के अलावा अन्य ज़मीन में किसी मालिक द्वारा धारित स्वामित्व का अधिकार–अधिनियम के अन्य प्रावधानों के अधीन रहते हुए–उस तारीख से समाप्त हो जाएगा और उस मालिक में निहित नहीं रहेगा, जिस तारीख से यह अधिनियम लागू होता है। धारा 4 की उप-धारा (2) उन ज़मीनों को सूचीबद्ध करती है, जिन्हें उप-धारा (1) के दायरे से बाहर रखा गया है। ये हैं: (a) ज़मीन की ऐसी इकाइयाँ जो 182 कनाल से अधिक नहीं हैं (जिनमें आवासीय स्थल, 'बेदज़ार' और 'सफ़ेदज़ार' शामिल हैं); (b) 'काहीकृष्मी' क्षेत्र, 'अरक', 'कप्स' और खेती के अयोग्य बंजर ज़मीनें (जिनमें ईंधन या चारा उगाने के लिए इस्तेमाल होने वाली ज़मीनें भी शामिल हैं); और (c) फलों के बाग। उप-धारा (2) का नियम (proviso) सरकार को यह अधिकार देता है कि वह खंड (b) में उल्लिखित ज़मीनों का निपटान उस तरीके से करे, जिसकी सिफारिश इस उद्देश्य के लिए गठित की जाने वाली समिति द्वारा की जाए। अधिनियम की धारा 26 मालिकों को किए जाने वाले भुगतान के प्रश्न से संबंधित है। यह प्रावधान करती है कि–जब तक राज्य की संविधान सभा इस अधिनियम के तहत अधिग्रहित की गई ज़मीन के संबंध में मुआवजे के प्रश्न का निपटारा नहीं कर लेती–सरकार द्वारा प्रत्येक ऐसे मालिक को, जिसकी ज़मीन अधिग्रहित की गई है, उस धारा में इंगित तरीके से एक वार्षिक वृत्ति (annuity) का भुगतान किया जाएगा। दूसरे शब्दों में, संविधान सभा के अंतिम निर्णय के अधीन रहते हुए, धारा 26 अधिग्रहित मालिकों को, उस धारा में निर्धारित पैमाने के अनुसार, वार्षिक वृत्ति के भुगतान की परिकल्पना करती है। इस वर्तमान अपील में हमारा बाकी धाराओं से कोई सरोकार नहीं है।

युवराज द्वारा इस अधिनियम को लागू किए जाने के बाद, उन्होंने 20 अप्रैल, 1951 को एक घोषणा जारी की, जिसमें निर्देश दिया गया कि जम्मू और कश्मीर राज्य के लिए संविधान बनाने के उद्देश्य से, वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने गए लोगों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनी एक संविधान सभा का तत्काल गठन किया जाए। इस घोषणा में यह बताया गया है कि उक्त संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव किस प्रकार किया जाएगा, और इसमें उक्त चुनावों को आयोजित करने के लिए प्रावधान भी किए गए हैं। इसने संविधान सभा को अपना स्वयं का एजेंडा तैयार करने, तथा अपनी कार्यप्रणाली और कामकाज के संचालन को विनियमित करने के लिए नियम बनाने का अधिकार भी दिया। इस घोषणा की प्रस्तावना से यह स्पष्ट होता है कि युवराज इस बात से संतुष्ट थे कि लोगों की यह आम इच्छा थी कि राज्य के लिए संविधान बनाने के उद्देश्य से एक संविधान सभा का गठन किया जाए; और यह भी आम तौर पर महसूस किया जा रहा था कि उक्त सभा को बुलाने में अब और देरी करना राज्य के भविष्य के कल्याण के लिए हानिकारक होगा। युवराज को इस बात में भी कोई संदेह नहीं था कि महाराजा द्वारा 5 मार्च, 1948 को जारी की गई वह घोषणा–जो खंड 4 से 6 के अनुसार राष्ट्रीय सभा को बुलाने के संबंध में थी–अब राज्य की तत्कालीन परिस्थितियों की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर रही थी। इस प्रकार, इस घोषणा का उद्देश्य एक लोकतांत्रिक संविधान बनाने की लोकप्रिय मांग को शीघ्रता से पूरा करना था; और यह इस बात का संकेत है कि राज्य के राजनीतिक इतिहास में एक निर्णायक चरण आ चुका था।

इस घोषणा के अनुसार, एक संविधान सभा का चुनाव किया गया और उसने राज्य के लिए संविधान का निर्माण किया। इस प्रकार निर्मित संविधान द्वारा राज्य में वंशानुगत शासन को समाप्त कर दिया गया, और राज्य के प्रमुख के रूप में 'सदर-ए-रियासत' के चुनाव का प्रावधान किया गया। 13 नवंबर, 1952 को युवराज को सदर-ए-रियासत के पद के लिए चुना गया, और उनके चुनाव के साथ ही महाराजा हरि सिंह का वंशानुगत शासन समाप्त हो गया।

15 नवंबर, 1952 को संविधान (जम्मू और कश्मीर पर लागू) दूसरा संशोधन आदेश, 1952 (सी. ओ. 43) जारी किया गया; और यह 17 नवंबर, 1952 को लागू हुआ। इस आदेश के द्वारा 1950 के पिछले आदेश में संशोधन किया गया, जिसके परिणामस्वरूप उक्त आदेश में राजप्रमुख के सभी संदर्भों को जम्मू और कश्मीर के सदर-ए-रियासत के संदर्भों के रूप में समझा जाएगा। इसी तरह, उक्त आदेश की दूसरी अनुसूची में भी कुछ संशोधन किए गए। उसी दिन, राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 370, उप-अनुच्छेद (3) के तहत एक घोषणा (सी. ओ. 44) की गई

कि 17 नवंबर, 1952 से, उक्त अनुच्छेद 370 इस संशोधन के साथ प्रभावी होगा कि उसके खंड (I) में दिए गए स्पष्टीकरण के स्थान पर नया स्पष्टीकरण प्रतिस्थापित किया जाएगा। इस नए स्पष्टीकरण का प्रभाव यह था कि 'राज्य सरकार' का अर्थ उस व्यक्ति से था जिसे राष्ट्रपति द्वारा, राज्य की विधान सभा की सिफारिश पर, उस समय के लिए जम्मू और कश्मीर के सदर-ए-रियासत के रूप में मान्यता दी गई हो, और जो उस समय राज्य की मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य कर रहा हो। 18 नवंबर, 1952 को युवराज करण सिंह को जम्मू और कश्मीर के सदर-ए-रियासत के रूप में मान्यता दी गई।

14 मई, 1954 को राष्ट्रपति द्वारा एक और संविधान (जम्मू और कश्मीर पर लागू) आदेश (सी.ओ. 48) जारी किया गया, जिसके तहत अन्य बातों के साथ-साथ अनुच्छेद 31ए और 31बी को कुछ संशोधनों के साथ राज्य पर लागू किया गया और इस अधिनियम को संविधान की नौवीं अनुसूची में शामिल किया गया। ये अंतिम दो आदेश अधिनियम के लागू होने के बाद जारी किए गए थे, इसलिए हमारे समक्ष उठाए गए बिंदुओं पर निर्णय लेने में इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हमने इन महत्वपूर्ण घटनाओं के घटनाक्रम को पूरा करने के उद्देश्य से ही इनका संक्षिप्त उल्लेख किया है।

इस अधिनियम की वैधता को मुख्य रूप से इस आधार पर चुनौती दी गई है कि युवराज करण सिंह के पास उक्त अधिनियम को लागू करने का कोई अधिकार नहीं था। यह वही तर्क है जिसे श्री चटर्जी ने हमारे सामने अलग-अलग और वैकल्पिक रूपों में प्रस्तुत किया है, जिसकी सावधानीपूर्वक जांच किए जाने की आवश्यकता है। युवराज करण सिंह की सक्षमता के विरुद्ध पहला आक्षेप इस धारणा पर आधारित है कि जिस समय महाराजा हरि सिंह ने 20 जून, 1949 की अपनी उद्घोषणा के माध्यम से अपनी शक्तियाँ युवराज करण सिंह को हस्तांतरित की थीं, उस समय वे स्वयं एक संवैधानिक सम्राट से अधिक कुछ नहीं थे; और इस प्रकार, वे युवराज करण सिंह को उससे उच्चतर शक्तियाँ हस्तांतरित नहीं कर सकते थे। आइए, सबसे पहले हम इस तर्क पर विचार करें। स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के पारित होने से पूर्व, जम्मू और कश्मीर राज्य पर महाराजा हरि सिंह की संप्रभुता ऐसी सीमाओं के अधीन थी, जो ब्रिटिश राजमुकुट की सर्वोच्चता तथा राज्य के शासकों और ब्रिटिश सरकार के मध्य संपन्न हुई संधियों एवं समझौतों

द्वारा संवैधानिक रूप से उन पर अधिरोपित की गई थीं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जहाँ तक राज्य के आंतरिक प्रशासन और शासन का प्रश्न है, महाराजा हरि सिंह, अपने पूर्ववर्तियों की भाँति, एक निरंकुश सम्राट थे; और यह कि उनके राज्य तथा उसके शासन से संबंधित समस्त विधायी, कार्यपालिका और न्यायिक शक्तियाँ अंतर्निहित रूप से उन्हीं में निहित थीं। इस स्थिति को विनियम 1/1991 (1934) की धारा 3 में स्पष्ट रूप से उजागर किया गया है। यद्यपि इस विनियम के माध्यम से महाराजा हरि सिंह ने राज्य के विधान और प्रशासन के मामलों में अपनी प्रजा को सहभागी बनाने के अपने आशय को कार्यान्वित किया था, तथापि धारा 3 के अंतर्गत उन्होंने अपनी समस्त पूर्व-विद्यमान विधायी, कार्यपालिका और न्यायिक शक्तियों को पूर्णतः अपने पास सुरक्षित रखा था। धारा 3 न केवल उक्त शक्तियों को सुरक्षित रखती है, अपितु यह स्पष्ट रूप से यह भी उपबंध करती है कि इस विनियम में अंतर्विष्ट कोई भी बात, अपनी अंतर्निहित सत्ता के बल पर विनियम, उद्घोषणाएँ और अध्यादेश बनाने तथा पारित करने के 'हिज़ हाइनेस' (महाराजा) के अधिकार और विशेषाधिकार को प्रभावित नहीं करेगी, अथवा उसे प्रभावित किया गया नहीं माना जाएगा। अतः यह स्पष्ट है कि इस विनियम के शेष उपबंध, 'हिज़ हाइनेस' द्वारा सुरक्षित रखी गई अधिभावी शक्तियों के अधीन थे।

हालाँकि, यह तर्क दिया गया है कि इस संवैधानिक स्थिति में, बाद में आए 1996 के संविधान अधिनियम (14/1996) द्वारा काफी हद तक बदलाव कर दिया गया था। हम इस तर्क को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। इस अधिनियम की धारा 4 और 5, शब्दों के रूप में, महामहिम की सभी विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों के साथ-साथ उनके अधिकारों और विशेषाधिकारों को ठीक उसी तरह सुरक्षित रखती हैं, जिस तरह 1991 के विनियम 1 की धारा 3 में किया गया था। यह बात महत्वपूर्ण है कि भाग II के प्रावधान (जो कार्यपालिका से संबंधित हैं)–ठीक वैसे ही जैसे भाग III के प्रावधान (जो विधायिका से संबंधित हैं)–एक स्पष्ट प्रावधान के साथ शुरू होते हैं, जिसमें कहा गया है कि वे धारा 4 और 5 के प्रावधानों के अधीन हैं। दूसरे शब्दों में, कार्यपालिका और विधायिका को प्रदान की गई शक्तियाँ–जो कि वैसे भी सीमित और शर्तों के अधीन हैं–उन्हें स्पष्ट रूप से महामहिम की सर्वोपरि शक्तियों के अधीन रखा गया है।

इसके अलावा, इस अधिनियम में कुछ खास प्रावधान हैं जो इन शक्तियों को बनाए रखने पर साफ तौर पर ज़ोर देते हैं। धारा 24, जिसमें उन आरक्षित मामलों की सूची दी गई है जिन पर प्रजा सभा को कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं था, के खंड (i) में यह प्रावधान है कि अधिनियम के प्रावधान और उसके तहत बनाए गए नियम, तथा उन्हें रद्द करना या उनमें बदलाव करना, आरक्षित मामले माने जाएँगे। इसके अलावा, खंड (j) महामहिम को यह अधिकार देता है कि वे समय-समय पर आरक्षित मामलों की सूची में अन्य खास मामले जोड़ सकें। इन प्रावधानों से यह साफ हो जाता है कि महामहिम आरक्षित मामलों की सूची का विस्तार कर सकते थे, जिससे प्रजा सभा के अधिकार क्षेत्र की सीमा तय हो जाती थी। इसी तरह, धारा 31 के उप-धाराओं (2) और (3) में बताई गई विधायी प्रक्रिया से यह साफ ज़ाहिर होता है कि केवल वही विधेयक कानून बन पाते थे जिन्हें महामहिम की मंज़ूरी मिलती थी; महामहिम के पास उन्हें सौंपे गए विधेयकों को मंज़ूरी देने या न देने की शक्ति पूरी तरह से असीमित थी। धारा 38 के तहत महामहिम द्वारा जारी किए गए अध्यादेशों को धारा 39 के आधार पर प्रजा सभा द्वारा रद्द या बदला नहीं जा सकता था; और अंत में, धारा 72 महामहिम की स्वाभाविक शक्ति और विशेषाधिकारों को स्पष्ट रूप से सुरक्षित रखती है। इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं है कि यद्यपि यह अधिनियम महामहिम द्वारा अपने प्रजाजनों को राज्य के प्रशासन में सक्रिय रूप से शामिल करने की दिशा में उठाया गया दूसरा कदम था, फिर भी इसके द्वारा महामहिम ने प्रजा सभा के पक्ष में अपने संप्रभु अधिकारों का आंशिक त्याग भी नहीं किया था। जहाँ तक इन शक्तियों का संबंध है, इस अधिनियम के तहत संवैधानिक स्थिति काफी हद तक वैसी ही है जैसी पिछले अधिनियम के तहत थी।

श्री चटर्जी का यह तर्क है कि इस अधिनियम की धारा 5 और 72 द्वारा संरक्षित विशेषाधिकार केवल ऐसे अधिकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो प्रजा सभा को नहीं सौंपे गए थे; और इस तर्क के समर्थन में उन्होंने हमें डाइसी की उस टिप्पणी का हवाला दिया कि "क्राउन का विवेकाधीन अधिकार आम तौर पर संसद के अधिनियम से नहीं, बल्कि विशेषाधिकार से उत्पन्न होता है—एक ऐसा शब्द जिसने संविधान से संबंधित किसी भी अन्य अभिव्यक्ति की तुलना में छात्रों को अधिक उलझन में डाला है। विशेषाधिकार, ऐतिहासिक रूप से और वास्तविक तथ्य के रूप में भी, विवेकाधीन या मनमानी सत्ता के उस अवशेष के अलावा और कुछ नहीं प्रतीत होता

है, जो किसी भी समय कानूनी रूप से क्राउन (1) के हाथों में शेष रहता है" । इस टिप्पणी को हाउस ऑफ लॉर्ड्स द्वारा अटॉर्नी-जनरल बनाम डी कीज़र रॉयल होटल लिमिटेड (2) के मामले में अनुमोदन के साथ उद्धृत किया गया है। हमें यह समझ नहीं आता कि यह कथन राज्य के शासन के संबंध में महाराजा हरि सिंह की संवैधानिक स्थिति और उनकी शक्तियों की सीमा निर्धारित करने में हमारी सहायता कैसे कर सकता है। डाइसी की ग्रंथ में उक्त चर्चा का संदर्भ अंग्रेजी संवैधानिक विकास के इतिहास की विशेष विशेषताओं से है; और जिस 1996 के संविधान से हमारा सरोकार है, उसके प्रभाव पर विचार करते समय यह स्वाभाविक रूप से अप्रासंगिक होगा। जैसा कि हमने अभी-अभी संकेत दिया है, यह संविधान इस तथ्य को ज़ोरदार ढंग से सामने लाता है कि महाराजा एक पूर्ण सम्राट थे और उनमें धारा 5 और 72 में उल्लिखित विशेषाधिकारों के साथ-साथ सभी विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियाँ निहित थीं।

हालाँकि संवैधानिक स्थिति असल में यही थी, फिर भी ब्रिटिश संसद द्वारा 'स्वतंत्रता अधिनियम, 1947' पारित किया गया; और ब्रिटिश सर्वोच्चता के समाप्त होने के साथ ही, भारतीय रियासतों के शासक उन सीमाओं से मुक्त हो गए जो ब्रिटिश राजमुकुट की उक्त सर्वोच्चता और ब्रिटिश सरकार तथा रियासतों के बीच लागू संधियों द्वारा उनकी संप्रभुता पर लगाई गई थीं। हालाँकि, यह स्वतंत्रता अधिनियम की धारा 7 में निर्धारित शर्त के अधीन था, जिसके तहत उस शर्त में निर्दिष्ट समझौतों के प्रावधानों को तब तक प्रभावी रखना आवश्यक था, जब तक कि रियासतों के शासकों द्वारा उन्हें रद्द न कर दिया जाए या बाद के समझौतों द्वारा उन्हें प्रतिस्थापित न कर दिया जाए। परिणामस्वरूप, उस शर्त द्वारा सुरक्षित रखे गए समझौतों के अधीन रहते हुए, महाराजा हरि सिंह रियासत के पूर्ण संप्रभु शासक बने रहे, और अंतर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से, वे संभवतः एक संप्रभु और स्वतंत्र राज्य का दर्जा प्राप्त होने का दावा भी कर सकते थे। परंतु, यह तर्क दिया जाता है कि महाराजा की संप्रभुता, 'विलय-पत्र' (Instrument of Accession) के प्रावधानों से काफी हद तक प्रभावित हुई थी, जिस पर उन्होंने 25 अक्टूबर, 1947 को हस्ताक्षर किए थे। यह तर्क स्पष्ट रूप से आधारहीन है। यह सच है कि 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन'

(1) डाइसी, "लॉ ऑफ़ द कॉन्स्टिट्यूशन", 9वाँ संस्करण, पृ. 424

(2) [1920] ए.सी. 508, 526.

(विलय पत्र) के खंड 1 के तहत, महामहिम ने उक्त खंड में उल्लिखित अधिकारियों को यह अधिकार दिया था कि वे अपने राज्य के संबंध में ऐसे कार्यों का निर्वहन कर सकें, जो 'भारत सरकार अधिनियम, 1935' के तहत (या उसके अनुसार) उन्हें सौंपे गए हों–जैसा कि 15 अगस्त, 1947 को उक्त डोमिनियन में वह अधिनियम लागू था; परंतु यह अधिकार स्वयं 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' की अन्य शर्तों के अधीन था। और 'इंस्ट्रूमेंट' के खंड 6 ने स्पष्ट और मुखर रूप से, महामहिम की संप्रभुता के–उनके राज्य के भीतर और उसके ऊपर–बने रहने को मान्यता प्रदान की थी। अतः, हमें इस तर्क को अस्वीकार कर देना चाहिए कि 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' पर हस्ताक्षर किए जाने से, राज्य के शासन के संबंध में उन विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों पर किसी भी प्रकार का प्रभाव पड़ा हो, जो उस समय राज्य के शासक (Ruler) में निहित थीं।

महाराजा हरि सिंह की शक्तियों के सवाल पर हमारे सामने एक और तर्क पेश किया गया है। यह कहा गया है कि जब महाराजा हरि सिंह ने 5 मार्च, 1948 को अपनी घोषणा जारी की, जिसमें उन्होंने आपातकालीन प्रशासन की जगह शेख मोहम्मद अब्दुल्ला की अध्यक्षता में एक लोकप्रिय अंतरिम सरकार बनाई और मंत्रियों की एक परिषद का गठन किया, जिसे कैबिनेट के तौर पर काम करना था और सामूहिक जिम्मेदारी के सिद्धांत पर चलना था, तो उन्होंने असल में राज्य में एक लोकप्रिय लोकतांत्रिक सरकार शुरू कर दी, अपने संप्रभु अधिकार छोड़ दिए, और एक संवैधानिक सम्राट बन गए। इस तर्क में कोई दम नहीं है। यह घोषणा बस इतना दिखाती है कि, जनमत के दबाव में और कबाइली हमले से पैदा हुई मुश्किल और नाज़ुक समस्या के चलते, महाराजा ने बहुत समझदारी से सरकार का असली प्रशासन एक लोकप्रिय कैबिनेट को सौंपने का फैसला किया; लेकिन कैबिनेट को 'लोकप्रिय अंतरिम सरकार' बताने से वह कैबिनेट, इस शब्द के सही संवैधानिक अर्थों में, एक लोकप्रिय कैबिनेट नहीं बन गई। कैबिनेट को अभी भी संविधान अधिनियम 14, 1996 (1939) के तहत ही काम करना था, और वह जो भी नीतियां अपनाती, उसे 'हिज़ हाइनेस' (महाराजा) की सर्वोच्च शक्तियों के अधीन ही काम करना होता था। इस तरह यह साफ़ है कि जब तक महाराजा ने 20 जून, 1949 को अपनी घोषणा जारी नहीं की, तब तक उनकी सभी विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियां, साथ ही उनके अधिकार और विशेषाधिकार, पहले की तरह

उन्हीं में निहित थे। इसीलिए यह तर्क कि महाराजा हरि सिंह ने अपनी संप्रभु शक्तियां प्रजा सभा और लोकप्रिय अंतरिम सरकार के पक्ष में छोड़ दी थीं, और इस तरह एक संवैधानिक सम्राट का दर्जा स्वीकार कर लिया था...

अगला मुद्दा जिस पर हमें फ़ैसला लेना है, वह यह है कि 20 जून, 1949 को महाराजा हरि सिंह द्वारा युवराज करण सिंह के पक्ष में जारी की गई घोषणा का क्या असर हुआ? इस घोषणा की शर्तें हम पहले ही बता चुके हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि, उस थोड़े समय के लिए जब महाराजा स्वास्थ्य कारणों से रियासत से बाहर जाना चाहते थे, उन्होंने रियासत के शासन से जुड़ी अपनी सारी शक्तियाँ और काम युवराज करण सिंह को सौंप दिए थे। चूँकि महाराजा खुद एक निरंकुश शासक थे, इसलिए किसी और को अपनी सारी या कोई भी शक्ति इस्तेमाल करने के लिए नियुक्त करने की उनकी शक्ति पर कोई रोक या सीमा नहीं थी। रियासत में ऐसी कोई सत्ता या ट्रिब्यूनल नहीं था जो ऐसा कदम उठाने के उनके अधिकार या शक्ति पर सवाल उठा सके। जैसा कि मुख्य न्यायाधीश कानिया ने दिल्ली लॉ अधिनियम, 1912 ([1]) मामले में कहा है, "एक विधायी निकाय जो एक निरंकुश शासक की तरह संप्रभु है, उसके पास कुछ भी करने की शक्ति होती है। वह, एक शासक की तरह, एक व्यक्तिगत फ़ैसले से यह निर्देश दे सकता है कि किसी खास व्यक्ति को मृत्युदंड दिया जाए या किसी खास संपत्ति को रियासत अपने कब्ज़े में ले ले। ऐसे चरित्र वाले निकाय के पास किसी ऐसे व्यक्ति को नामित करने की शक्ति हो सकती है जो उसकी सारी शक्तियों का इस्तेमाल कर सके और उसके सारे फ़ैसले ले सके। ऐसा करना इसलिए संभव है क्योंकि ऐसी कोई सत्ता या ट्रिब्यूनल नहीं है जो ऐसा करने के उस निकाय के अधिकार या शक्ति पर सवाल उठा सके।" इसी तरह, न्यायमूर्ति महाजन ने उसी मामले में कहा है कि, "संसद, एक साधारण विधायिका होने के अलावा, एक कानूनी रूप से सर्वशक्तिमान निरंकुश सत्ता भी है; इसलिए वह अपनी संप्रभु शक्ति का इस्तेमाल करते हुए अपने विधायी कार्यों को किसी और को सौंप सकती है या नए निकाय बनाकर उन्हें कानून बनाने की शक्ति दे सकती है"; और विद्वान न्यायाधीश ने आगे कहा कि, "चाहे वह विधायी शक्ति सौंपने की अपनी शक्ति का इस्तेमाल एक साधारण विधायिका के तौर पर करे या एक सर्वशक्तिमान निरंकुश सत्ता के तौर पर, इसकी जाँच न्यायिक मिसालों या न्यायिक समीक्षा की कसौटी पर करना संभव नहीं है, क्योंकि इंग्लैंड में न्याय की अदालतें इस मामले में दखल नहीं दे सकतीं।" अपने फ़ैसले में, जस्टिस मुखर्जी ने भी सर एडवर्ड कोक के उन शब्दों को उद्धृत

([1]) [1951] एस.सी.आर. 747, 765, 766, 889, 969.

करते हुए, जो "संसद की असीम और पूर्ण शक्ति और अधिकार क्षेत्र" के संबंध में थे, इसी तरह की टिप्पणियाँ की हैं। जो बात ब्रिटिश संसद के लिए सच है, वह एक पूर्ण और निरंकुश सम्राट के लिए और भी अधिक सच होगी; एक ऐसे सम्राट के लिए, जिसकी एक संप्रभु के रूप में सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किसी भी प्रकार के जन-नियंत्रण या विधायी नियंत्रण के अधीन नहीं होता। यदि यही वास्तविक स्थिति है, तो महाराजा हरि सिंह द्वारा जारी की गई वह उद्घोषणा–जिसके द्वारा युवराज करण सिंह को अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग करने के लिए अधिकृत किया गया था–उन्हें भी वैसी ही समस्त शक्तियों से संपन्न कर देगी; और जब तक वह उद्घोषणा प्रभावी रहेगी, तब तक युवराज भी ठीक वैसी ही स्थिति में होंगे, जैसी कि उनके पिता की थी।

इसके अलावा, यह कहना भी सही होगा कि हालाँकि इस घोषणा में यह कहा गया था कि महाराजा हरि सिंह स्वास्थ्य कारणों से कुछ समय के लिए राज्य से बाहर जा रहे हैं, लेकिन उस समय भी यह साफ़ था कि महाराजा का यह 'अस्थायी जाना' असल में राज्य से उनका 'स्थायी रूप से हट जाना' ही था। उन्हें और उनकी प्रजा को भी यह बात अच्छी तरह समझ आ गई थी कि राज्य पर हुए हमले से पैदा हुई असाधारण समस्याओं के कारण उत्पन्न तनाव और दबाव का सामना करने के लिए, यह ज़रूरी था कि वे पद छोड़ दें और युवा युवराज करण सिंह उनकी जगह लें। इस नज़रिए से देखें तो, यह घोषणा असल में उनके द्वारा अपना पद त्यागने और युवराज करण सिंह को राज्य के शासक के रूप में स्थापित करने के बराबर ही थी। हालाँकि, युवराज करण सिंह के अधिकार क्षेत्र पर विचार करते समय, इस मामले के इस पहलू पर और अधिक चर्चा करना ज़रूरी नहीं है; क्योंकि, जैसा कि हमने अभी-अभी तय किया है, महाराजा हरि सिंह के पास यह अधिकार था कि वे अपनी शक्तियों को कुछ समय के लिए युवराज करण सिंह को सौंप सकें–जैसा कि उनकी घोषणा में कहा गया था; और इस प्रकार शक्तियों के हस्तांतरण के आधार पर, युवराज करण सिंह को वे सभी अधिकार प्राप्त हो गए थे जो उनके पिता के पास राज्य के शासक के तौर पर थे, और ये अधिकार तब तक लागू रहे जब तक कि उस घोषणा को रद्द नहीं कर दिया गया। इसलिए, यह तर्क कि 20 जून, 1949 को महाराजा हरि सिंह द्वारा जारी की गई घोषणा ने युवराज करण सिंह को वे विशिष्ट शक्तियाँ प्रदान नहीं की थीं, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अगली दलील यह है कि युवराज करण सिंह की शक्तियाँ, 25 नवंबर, 1949 को उनके द्वारा जारी की गई उद्घोषणा से काफ़ी हद तक सीमित हो गई थीं। हम इस तर्क से भी प्रभावित

नहीं हैं। इस उद्घोषणा के द्वारा, युवराज करण सिंह ने अपने राज्य में भारत के संविधान को लागू करने का प्रयास किया–जिसे भारत की संविधान सभा द्वारा शीघ्र ही अपनाया जाने वाला था–और वह भी केवल वहीं तक, जहाँ तक वह लागू हो सकता था; दूसरे शब्दों में, इस उद्घोषणा ने संवैधानिक स्थिति को उस बिंदु से आगे नहीं बढ़ाया, जहाँ वह महाराजा हरि सिंह द्वारा 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' (विलय-पत्र) पर हस्ताक्षर किए जाने के बाद और उसके परिणामस्वरूप पहले से ही मौजूद थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस उद्घोषणा का, राज्य के शासक के रूप में युवराज करण सिंह के अधिकार और शक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा; ये अधिकार और शक्तियाँ उन्हें उनके पिता द्वारा इस संबंध में जारी की गई उद्घोषणा के माध्यम से प्रदान की गई थीं।

हालाँकि, श्री चटर्जी ने हमारे सामने बहुत गंभीरता से यह दलील पेश की है कि, जम्मू और कश्मीर राज्य पर संविधान के कुछ खास अनुच्छेदों को लागू करने के परिणामस्वरूप, संप्रभुता के वे सभी निशान, जिन पर युवराज करण सिंह दावा कर सकते थे, खत्म हो गए थे; और इसके चलते वे राज्य के केवल एक संवैधानिक सम्राट बनकर रह गए थे, जिनके पास कोई विधायी अधिकार या शक्तियाँ नहीं थीं। असल में, यह मामले का वह हिस्सा है जिस पर श्री चटर्जी ने काफी ज़ोर दिया। इस संबंध में, यह याद रखना प्रासंगिक होगा कि संविधान आदेश 10 के द्वारा, अनुच्छेद 1 और अनुच्छेद 370 के प्रावधानों के अलावा, संविधान के कुछ अन्य प्रावधानों को भी राज्य पर लागू किया गया था, जिनमें दूसरी अनुसूची में बताई गई छूटें और संशोधन शामिल थे। अनुच्छेद 245, 254 और 255, साथ ही संविधान के भाग XI से संशोधित अनुच्छेद 246 को राज्य पर लागू किया गया था। इसी तरह, भाग XIX से अनुच्छेद 366 को लागू किया गया था, और भाग XXI से अनुच्छेद 370 और 385 को लागू किया गया था। इस संबंध में यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि भाग VI, जो पहली अनुसूची के भाग A में आने वाले राज्यों से संबंधित है, उसे लागू नहीं किया गया है; और न ही भाग VII को लागू किया गया है, जिसमें अनुच्छेद 238 शामिल था। अनुच्छेद 238 में पहली अनुसूची के भाग B में आने वाले राज्यों पर भाग VI के प्रावधानों को लागू करने का प्रावधान है। सातवीं अनुसूची, जिसमें तीन विधायी सूचियाँ शामिल हैं, उसे भी लागू नहीं किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, हालाँकि अनुच्छेद 1 को लागू करने से राज्य भारत के क्षेत्र का एक हिस्सा बन गया

और **भाग बी** के तहत एक राज्य के रूप में गठित हुआ, फिर भी भाग VI और भाग VII के प्रावधान उस पर लागू नहीं हुए, और न ही वह अनुसूची लागू हुई जिसमें तीन विधायी सूचियाँ निर्धारित की गई थीं। अपीलकर्ता की दलील पर विचार करते समय इस तथ्य का काफी महत्व और सार्थकता है।

चूँकि श्री चटर्जी ने अपने इस तर्क के समर्थन में कि युवराज के पास अब पूर्ण विधायी शक्तियाँ नहीं रह गई थीं, संविधान के अनुच्छेद 370 के राज्य पर लागू होने पर ज़ोरदार ढंग से भरोसा किया है, इसलिए इस अनुच्छेद के प्रावधानों और उनके प्रभाव की जाँच करना आवश्यक है। इस अनुच्छेद का उद्देश्य जम्मू और कश्मीर राज्य के संबंध में अस्थायी प्रावधान करना था। यह इस प्रकार है:

"अनुच्छेद 370: (I) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी,-

(क) अनुच्छेद 238 के उपबंध जम्मू और कश्मीर राज्य के संबंध में लागू नहीं होंगे;

(ख) उक्त राज्य के लिए कानून बनाने की संसद की शक्ति निम्नलिखित तक सीमित होगी--

(i) यूनियन लिस्ट और कॉन्कर्रेंट लिस्ट के वे मामले जिन्हें, राज्य सरकार से सलाह करके, प्रेसिडेंट ने उन मामलों के तौर पर घोषित किया है जो राज्य के भारत डोमिनियन में विलय को कंट्रोल करने वाले इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन में बताए गए हैं, जिनके बारे में डोमिनियन लेजिस्लेचर उस राज्य के लिए कानून बना सकता है; और

(ii) उक्त सूचियों में ऐसे अन्य विषय, जिन्हें राज्य सरकार की सहमति से, राष्ट्रपति आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करें।

स्पष्टीकरण – इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए, 'राज्य की सरकार' से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसे राष्ट्रपति द्वारा, तत्समय, जम्मू और कश्मीर के महाराजा के रूप में मान्यता प्राप्त है और जो 5 मार्च, 1948 के महाराजा की उद्घोषणा के अधीन, तत्समय पदस्थ मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करता है।

(ग) अनुच्छेद I और इस अनुच्छेद के उपबंध उस राज्य के संबंध में लागू होंगे;

(घ) इस संविधान के अन्य उपबंधों में से ऐसे उपबंध उस राज्य के संबंध में, ऐसे अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए, लागू होंगे जिन्हें राष्ट्रपति आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करे;

बशर्ते कि ऐसा कोई भी आदेश, जो उप-खंड (b) के पैराग्राफ (i) में निर्दिष्ट राज्य के 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' (विलय-पत्र) में बताए गए मामलों से संबंधित हो, राज्य सरकार के परामर्श के बिना जारी नहीं किया जाएगा:

इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई भी आदेश, जो पिछले परंतुक में उल्लिखित विषयों के अलावा अन्य विषयों से संबंधित हो, उस सरकार की सहमति के बिना जारी नहीं किया जाएगा।

(2) यदि खंड (1) के उपखंड (बी) के पैरा (ii) में या उस खंड के उपखंड (डी) के दूसरे परंतुक में निर्दिष्ट राज्य की सरकार की सहमति, राज्य का संविधान बनाने के प्रयोजन के लिए संविधान सभा के आहूत किए जाने से पहले दे दी जाती है, तो उसे ऐसी सभा के समक्ष ऐसे विनिश्चय के लिए रखा जाएगा जो वह उस पर करे।

(3) इस अनुच्छेद के पूर्वगामी उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति, लोक अधिसूचना द्वारा, यह घोषित कर सकेंगे कि यह अनुच्छेद प्रवृत्त नहीं रहेगा या ऐसे अपवादों और उपांतरणों के साथ ही तथा ऐसी तारीख से, जो वह विनिर्दिष्ट करें, प्रवृत्त होगा:

बशर्ते कि खंड (2) में निर्दिष्ट राज्य की संविधान सभा की सिफारिश, राष्ट्रपति द्वारा ऐसी अधिसूचना जारी किए जाने से पहले आवश्यक होगी।

इस अनुच्छेद का खंड (1) (बी) संसद की, राज्य के लिए कानून बनाने की विधायी शक्ति से संबंधित है; और यह इस संबंध में सीमाएँ निर्धारित करता है। खंड (1) के उप-खंड (बी) के पैराग्राफ (i) के तहत, संसद के पास राज्य के लिए उन मामलों के संबंध में कानून बनाने की शक्ति है जो संघ सूची और समवर्ती सूची में शामिल हैं, और जिन्हें राष्ट्रपति, राज्य सरकार के परामर्श से, 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' (विलय-पत्र) में निर्दिष्ट मामलों के अनुरूप घोषित करते हैं; जबकि उक्त सूचियों में शामिल अन्य मामलों के संबंध में, संसद के पास पैराग्राफ (ii) के तहत, राज्य के लिए कानून बनाने की शक्ति तब हो सकती है, जब ऐसे अन्य मामलों को राष्ट्रपति द्वारा, राज्य सरकार की सहमति से जारी किए गए आदेश द्वारा निर्दिष्ट कर दिया गया हो। यह बात महत्वपूर्ण है कि पैराग्राफ (i) में राज्य सरकार के साथ 'परामर्श' का उल्लेख है, जबकि पैराग्राफ (ii) में उसकी 'सहमति' की आवश्यकता है।

इस प्रकार, राज्य सरकार के साथ परामर्श और उसकी सहमति का प्रावधान करने के बाद, स्पष्टीकरण यह बताता है कि इस संदर्भ में 'राज्य सरकार' का क्या अर्थ है। अपीलकर्ता के अनुसार, इसका अर्थ वह महाराजा नहीं है जो अपने विवेक से स्वयं कार्य करता है, बल्कि वह व्यक्ति है जिसे राष्ट्रपति द्वारा–उस समय पदस्थ मंत्रिपरिषद की सलाह पर–महाराजा के रूप में मान्यता दी गई हो। अपीलकर्ता ने इसी स्पष्टीकरण पर काफी हद तक भरोसा किया है।

इस अनुच्छेद के खंड (1) के उपखंड (सी) और (डी) में क्रमशः यह उपबंध किया गया है कि अनुच्छेद 1 और इस अनुच्छेद के उपबंध राज्य के संबंध में लागू होंगे; और यह कि संविधान के अन्य उपबंध, राष्ट्रपति के आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए, उसके संबंध में लागू होंगे। ये उपबंध भी इसी प्रकार, क्रमशः राज्य की सरकार के साथ परामर्श या उसकी सहमति के अधीन रखे गए हैं।

संसद की विधायी शक्ति और राज्य पर संविधान के अनुच्छेदों के लागू होने का प्रावधान करने के बाद, अनुच्छेद 370, खंड (2) यह निर्धारित करता है कि यदि खंड (1) के संबंधित उप-खंडों द्वारा अपेक्षित राज्य सरकार की सहमति, कश्मीर की संविधान सभा के बुलाए जाने से पहले ही दे दी गई है, तो ऐसी सहमति को उस सभा के समक्ष रखा जाएगा, ताकि वह उस पर अपना निर्णय ले सके। यह खंड दर्शाता है कि संविधान निर्माताओं ने संविधान सभा के अंतिम निर्णय को बहुत अधिक महत्व दिया था, और अनुच्छेद 370(1) के संबंधित अस्थायी प्रावधानों द्वारा संसद और राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्तियों के निरंतर प्रयोग को, उक्त मामलों में उक्त संविधान सभा के अंतिम अनुमोदन पर सशर्त बना दिया गया है।

खंड (3) राष्ट्रपति को यह अधिकार देता है कि वे एक सार्वजनिक अधिसूचना द्वारा यह घोषित कर दें कि यह अनुच्छेद अब लागू नहीं रहेगा, या केवल कुछ विशेष अपवादों या संशोधनों के साथ ही लागू होगा; परंतु राष्ट्रपति इस शक्ति का प्रयोग तभी कर सकते हैं, जब संबंधित राज्य की संविधान सभा इस संबंध में कोई सिफारिश करे। इस प्रकार, खंड (3) का परंतुक उस महत्व

पर भी ज़ोर देता है, जो अनुच्छेद 370 के अंतर्गत आने वाले संबंधित मामलों के संबंध में कश्मीर की संविधान सभा के अंतिम निर्णय को दिया गया था।

अपीलकर्ता का तर्क है कि इस अनुच्छेद की योजना से यह स्पष्ट होता है कि जिस व्यक्ति को राष्ट्रपति द्वारा जम्मू और कश्मीर के महाराजा के रूप में मान्यता दी जाएगी, उसे राज्य के एक संवैधानिक शासक से अधिक कुछ नहीं माना गया था। इस अनुच्छेद के अंतर्गत आने वाले मामलों के संबंध में, वह स्वयं या अपने विवेक से कार्य या निर्णय नहीं ले सकता था। इस अनुच्छेद में परिकल्पित परामर्श, मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करने वाले महाराजा के साथ होना आवश्यक था, और इसमें निर्धारित सहमति भी उसी प्रकार प्राप्त की जानी और दी जानी थी; और यह बात महाराजा की शक्तियों पर लगी सीमाओं को उजागर करती है। यह तर्क भी दिया गया है कि इन मामलों में अंतिम निर्णय जानबूझकर संविधान सभा के लिए छोड़ दिया गया था, जिसे राज्य के संविधान के निर्माण हेतु आहूत किया जाना था; और यह बात एक बार फिर महाराजा की शक्तियों पर अधिरोपित सीमाओं पर बल देती है।

यह तर्क यह मानकर चलता है कि अनुच्छेद 370(1) की व्याख्या के तहत, वह व्यक्ति जिसे राष्ट्रपति ने 'महाराजा' के रूप में मान्यता दी है, उसे ही अनुच्छेद 370 के अंतर्गत आने वाले मामलों के संबंध में मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करना होता है। लेकिन, यह दृष्टिकोण अपनाना भी संभव है कि उक्त खंड वास्तव में यह इंगित करता है कि किसी भी व्यक्ति को राज्य के 'महाराजा' के रूप में मान्यता देने में, राष्ट्रपति को 5 मार्च, 1948 की महाराजा की उद्घोषणा के तहत उस समय पद पर आसीन मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करना होता है। यदि व्याख्या का सही अर्थ यही है, तो यह तर्क कि महाराजा से परामर्श करने या उनकी सहमति प्राप्त करने से पहले, उन्हें अपने मंत्रियों की सलाह पर कार्य करना चाहिए–वैध नहीं होगा। तथापि, हम इस तर्क पर विचार करना चाहेंगे, भले ही हम यह मान लें कि अपीलकर्ता द्वारा व्याख्या का जो अर्थ लगाया गया है, वह सही है।

उक्त व्याख्या के आधार पर, जो प्रश्न निर्धारित किया जाना है, वह यह है: क्या अनुच्छेद 370(1) के प्रावधान, राज्य के शासन-प्रबंध के मामले में महाराजा की पूर्ण शक्तियों को प्रभावित करते हैं? वर्तमान अनुच्छेद के लागू होने के प्रभाव का मूल्यांकन, इसके उद्देश्य और इसकी शर्तों के प्रकाश में किया जाना चाहिए, और इन शर्तों पर राज्य तथा भारत के बीच संवैधानिक

संबंधों की विशेष विशेषताओं के संदर्भ में विचार किया जाना चाहिए। संविधान-निर्माता स्पष्ट रूप से इस बात को लेकर उत्सुक थे कि उक्त संबंध का अंतिम निर्धारण स्वयं राज्य की संविधान सभा द्वारा किया जाए; यही वर्तमान अनुच्छेद द्वारा किए गए अस्थायी प्रावधानों का मुख्य आधार और प्रयोजन है; और इसलिए, इसके प्रावधानों का प्रभाव केवल इसके विषय-वस्तु तक ही सीमित रहना चाहिए। यह मानना न तो अनुमेय होगा और न ही उचित कि, निहित रूप से, इस अनुच्छेद का उद्देश्य महाराजा की पूर्ण विधायी शक्तियों पर कोई सीमाएं आरोपित करना था। इन शक्तियों को स्वयं राज्य के 'संविधान अधिनियम' द्वारा मान्यता दी गई थी और विशेष रूप से उनका प्रावधान किया गया था; और संविधान-निर्माताओं के विचार या अधिकार-क्षेत्र में यह बात न तो थी और न ही हो सकती थी कि वे उक्त शक्तियों पर परोक्ष रूप से भी कोई आघात करें। यह स्मरण रखना उचित होगा कि 'विलय-पत्र' (Instrument of Accession) के माध्यम से इन शक्तियों को स्पष्ट रूप से मान्यता दी गई थी और उन्हें संरक्षित रखा गया था; और न तो युवराज करण सिंह द्वारा जारी की गई बाद की उद्घोषणा–जिसमें, जहाँ तक वह लागू होती थी, भारत के प्रस्तावित संविधान को अंगीकार किया गया था–और न ही राष्ट्रपति द्वारा बाद में जारी किए गए 'संविधान आदेश' का उद्देश्य शासक की उक्त विधायी शक्तियों पर कोई सीमाएं आरोपित करना था। राज्य किस प्रकार की शासन-प्रणाली अपनाएगा, यह एक ऐसा विषय था जिसका निर्णय राज्य की संविधान सभा द्वारा किया जाना था–और स्वाभाविक रूप से, उसी के लिए छोड़ दिया गया था। जब तक संविधान सभा इस संबंध में अपना निर्णय नहीं ले लेती, तब तक राज्य और भारत के बीच संवैधानिक संबंध मूल रूप से 'विलय-पत्र' द्वारा ही शासित होते रहे। इसलिए, यह मान लेना अनुचित होगा कि अनुच्छेद 370 के लागू होने से, राज्य के शासन-प्रबंध के मामले में महाराजा की पूर्ण शक्तियां प्रभावित हो सकती थीं, अथवा उन्हें प्रभावित करने का कोई इरादा था। अतः, हमारी राय में, इस अनुच्छेद पर आधारित अपीलकर्ता के तर्क को अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।

अनुच्छेद 245, 254 और 255, तथा संशोधित रूप में अनुच्छेद 246 का अनुप्रयोग, राज्य के शासक के अधिकार और शक्तियों के प्रश्न पर कोई प्रभाव डालता हुआ प्रतीत नहीं होता। इनका अनुप्रयोग केवल संसद को उन विषयों के संबंध में कानून बनाने की विधायी शक्तियाँ प्रदान करने का कार्य करता है, जो अनुच्छेद 370 के अंतर्गत आते हैं। प्रसंगवश, हम यह बताना चाहेंगे कि संविधान आदेश 10, 1950 द्वारा यथा-उपबंधित अनुच्छेद 246 और 254 का अनुप्रयोग, बाद

में संविधान आदेश 48/1954 द्वारा संशोधित कर दिया गया था। इसी प्रकार, अनुच्छेद 255, जिसे मूल रूप से प्रथम आदेश द्वारा लागू किया गया था, उसे बाद वाले आदेश द्वारा हटा दिया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बाद में यह अनुभव किया गया कि पूर्ववर्ती आदेश द्वारा निर्धारित उक्त अनुच्छेदों का मूल अनुप्रयोग अधिक प्रत्याशित और काल्पनिक प्रकृति का था, और उसमें या तो उपयुक्त संशोधन की अथवा उसे रद्द किए जाने की आवश्यकता थी।

इसके पश्चात्, अपीलकर्ता ने अनुच्छेद 385 के उपबंधों पर भरोसा जताया है। इसमें यह उपबंधित है:

> "अनुच्छेद 385.-जब तक पहली अनुसूची के भाग 'ख' में विनिर्दिष्ट किसी राज्य के विधान-मंडल का सदन या सदन, इस संविधान के उपबंधों के अधीन, विधिवत गठित और प्रथम सत्र के लिए आहूत नहीं हो जाता है, तब तक इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले, तत्स्थानी भारतीय राज्य के विधान-मंडल के रूप में कार्य करने वाला निकाय या प्राधिकारी, इस संविधान के उपबंधों द्वारा इस प्रकार विनिर्दिष्ट राज्य के विधान-मंडल के सदन या सदनों को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करेगा और कर्तव्यों का पालन करेगा।"

यह समझना मुश्किल है कि यह अनुच्छेद अपीलकर्ता के तर्क का समर्थन कैसे करता है। असल में, यह समझना आसान नहीं है कि राज्य पर इस अनुच्छेद को लागू करने का असली मतलब क्या था। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, राज्य पर इन खास अनुच्छेदों को लागू करने का मकसद राज्य में प्रचलित सरकार के स्वरूप और राज्य के शासन के संबंध में महाराजा की पूर्ण विधायी शक्तियों पर कोई असर डालना नहीं था, और संवैधानिक रूप से ऐसा हो भी नहीं सकता था। जिस तरह अनुच्छेद 245, 254 और 255 को लागू करने के मामले में, उसी तरह इस अनुच्छेद के मामले में भी, बाद में यह महसूस किया गया कि इस अनुच्छेद को लागू करना पूरी तरह से केवल नाममात्र का था और इसका कोई मकसद पूरा नहीं हो सकता था। इसीलिए, 1954 के C.O. 48 के ज़रिए, इस अनुच्छेद को उन अनुच्छेदों की सूची से हटा दिया गया है जो राज्य पर लागू होते थे। हमें ऐसा लगता है कि इस अनुच्छेद को शुरू में औपचारिक रूप से लागू करना, अपीलकर्ता के इस तर्क को सही नहीं ठहरा सकता कि राज्य के शासक में

निहित पूर्ण विधायी शक्तियाँ न केवल प्रभावित हुईं, बल्कि जैसा कि अपीलकर्ता का दावा है, पूरी तरह से खत्म हो गईं। इस अनुच्छेद को लागू करने के बावजूद, राज्य के शासन के संबंध में संवैधानिक स्थिति वैसी ही बनी रही। इस अनुच्छेद और अनुच्छेद 245, 254 और 255 को लागू करने के मामले पर विचार करते समय, मैक्सवेल द्वारा बताए गए व्याख्या के नियम पर भरोसा करना उचित होगा, जो कहता है कि "कोई ऐसी चीज़ जो किसी कानून के शब्दों के दायरे में आती है, उसे आम तौर पर उस कानून का हिस्सा नहीं माना जाना चाहिए, जब तक कि वह विधायिका (1) का असली इरादा भी न हो" । यह स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने कश्मीर की समस्या को एक विशेष आधार पर देखा है, और यद्यपि कश्मीर का भारत के साथ जुड़ाव–जो 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' (विलय पत्र) के साथ शुरू हुआ था–लोकतांत्रिक आधार पर लगातार और धीरे-धीरे और अधिक मज़बूत होता गया है, फिर भी इसमें ऐसी विशेषताएँ मौजूद हैं जो भारत संघ में शामिल किसी अन्य राज्य में नहीं पाई जातीं। हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिस समय यह अधिनियम पारित किया गया था, उस समय युवराज की पूर्ण विधायी शक्तियों पर किसी भी तरह का कोई असर नहीं पड़ा था। इसका नतीजा यह है कि युवराज करण सिंह 1950 में इस अधिनियम को बनाने के लिए सक्षम थे, और इसलिए इस आधार पर अधिनियम की वैधता को दी गई चुनौती कि उनके पास इस संबंध में विधायी क्षमता नहीं थी, सफल नहीं हो सकती।

यह साफ़ है कि इस अधिनियम की वैधता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि अधिनियम में मुआवज़े के भुगतान का प्रावधान नहीं था। पहली बात तो यह कि अधिनियम की धारा 26 में मुआवज़े के भुगतान की परिकल्पना की गई थी। इसके अलावा, उस समय राज्य का कानून जैसा था, उसमें शासक की विधायी शक्ति पर ऐसी कोई सीमा नहीं थी, जैसी कि संविधान के अनुच्छेद 31 में निर्धारित है; और उस समय अनुच्छेद 31 राज्य पर लागू नहीं था। बाद में, जब अनुच्छेद 31(2) का विस्तार राज्य तक किया गया, तो यह अधिनियम निस्संदेह 'मौजूदा कानून' बन गया, और उक्त अनुच्छेद के नए और संशोधित खंड (5) द्वारा इसे संरक्षित कर लिया गया।

इस मामले का एक और पहलू भी है जिसका ज़िक्र करना ज़रूरी है। एक्ट की धारा 26 के तहत मुआवज़े के भुगतान के सवाल पर अंतिम फ़ैसला लेने का अधिकार राज्य की संविधान सभा को दिया गया था; और यह बात सभी मानते हैं कि संविधान सभा ने कोई भी मुआवज़ा न देने

का फ़ैसला किया है। श्री चटर्जी का तर्क है कि यह फ़ैसला अमान्य है, क्योंकि संविधान सभा को ही ठीक से बुलाया और गठित नहीं किया गया था। इस तर्क में कोई दम नहीं है। 20 जून, 1949 को महाराजा हरि सिंह द्वारा जारी एक घोषणा के ज़रिए युवराज करण सिंह को राज्य के शासन-प्रशासन की ज़िम्मेदारी सौंपे जाने के बाद, उन्होंने एक शासक के तौर पर काम करना शुरू कर दिया था और उन्हें इस संबंध में अपनी सभी शक्तियों का इस्तेमाल करने का अधिकार था। उन्हें यह एहसास हो गया था कि महाराजा हरि सिंह की वह मूल योजना–जिसकी घोषणा उन्होंने 5 मार्च, 1948 को की थी–यानी एक 'राष्ट्रीय सभा' बुलाने की योजना, उस समय की बदली हुई परिस्थितियों की ज़रूरतों को पूरा नहीं कर पाएगी; और युवराज ने सोचा कि एक व्यापक आधार पर 'संविधान सभा' बुलाई जानी चाहिए और उसे बिना किसी देरी के संविधान बनाने का काम सौंपा जाना चाहिए। यह कहना बेमानी है कि युवराज उसी तर्ज़ पर राष्ट्रीय सभा बुलाने के लिए बाध्य थे, जैसा कि महाराजा हरि सिंह ने अपनी घोषणा में तय किया था–यानी उसी उद्देश्य, उसी प्रयोजन और उन्हीं शर्तों के अधीन। उस समय युवराज के सामने जो परिस्थितियाँ थीं, उन पर विचार करना उन्हीं का काम था; और यह फ़ैसला करना भी उन्हीं के अधिकार-क्षेत्र में था कि कौन सा समाधान उन परिस्थितियों की ज़रूरतों को संतोषजनक ढंग से पूरा करेगा। हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि 20 अप्रैल, 1951 को वह घोषणा जारी करने के लिए युवराज पूरी तरह से सक्षम थे, जिसके तहत अंततः संविधान सभा का चुनाव हुआ और उसे बुलाया गया। यदि संविधान सभा का गठन विधिवत हुआ था और उसने ज़मींदारों को कोई भी मुआवज़ा न देने का फ़ैसला किया था, तो यह समझना मुश्किल है कि इस फ़ैसले की वैधता को किस प्रकार प्रभावी ढंग से चुनौती दी जा सकती है।

अब विचार करने के लिए केवल एक ही प्रश्न शेष रह जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि यह अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 254 के तहत अमान्य है, क्योंकि यह दो पिछले अधिनियमों–संख्या 10/1990 और संख्या 4/1977 के साथ असंगत है। इस बात की जाँच करना अनावश्यक है कि क्या इस अधिनियम और उन पिछले अधिनियमों के बीच कोई विरोधाभास है, जिनका उल्लेख अपीलकर्ता ने किया है। हमारी राय में, अनुच्छेद 254 के प्रावधानों पर आधारित इस तर्क को इस प्रारंभिक आधार पर अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए कि इस अनुच्छेद की सहायता प्रभावी ढंग से लेना असंभव है, क्योंकि इसके शब्दों के अनुसार, वर्तमान मामले में इसके लागू होने की आवश्यक शर्तें ही मौजूद नहीं हैं। यह तर्क यह मानकर चलता

है कि अनुच्छेद 254(1) के तहत, यदि किसी राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाए गए किसी कानून के किसी प्रावधान और संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून के किसी प्रावधान के बीच– समवर्ती सूची में सूचीबद्ध विषयों में से किसी एक के संबंध में–कोई विरोधाभास होता है, तो खंड (2) के प्रावधानों के अधीन रहते हुए, राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाया गया वह कानून, उस विरोधाभास की सीमा तक, शून्य माना जाएगा। अपीलकर्ता यह स्वीकार करता है कि अनुच्छेद 254 के खंड (2) के प्रावधानों को लागू करने की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है; यह खंड उन मामलों से संबंधित है जहाँ बाद में बनाए गए कानून को राष्ट्रपति के विचार और उनकी सहमति के लिए आरक्षित रखा गया हो। परंतु मामले का यह पहलू स्वयं ही यह दर्शाता है कि संपूर्ण अनुच्छेद ही, सार रूप में, इस राज्य पर लागू नहीं होगा। अनुच्छेद 254 का खंड (2) जो कि इसका एक अभिन्न और महत्वपूर्ण हिस्सा है यह परिकल्पना करता है कि राज्य का विधानमंडल, किसी प्रासंगिक विषय पर कानून बनाते समय, उसे राष्ट्रपति के विचार और उनकी सहमति के लिए आरक्षित रख सकता है, और इस प्रकार खंड (1) के परिणामों से बच सकता है; और यह स्पष्ट है कि खंड (2) इस राज्य पर लागू नहीं होता था। इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 254(1) को लागू करने की आवश्यक शर्त यह है कि मौजूदा कानून, समवर्ती सूची में सूचीबद्ध विषयों में से किसी एक के संबंध में होना चाहिए; दूसरे शब्दों में, जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि यह विरोधाभास, किसी बाद के कानून के प्रावधानों और किसी मौजूदा कानून के प्रावधानों के बीच निर्दिष्ट विषयों के संबंध में मौजूद है, तब तक यह अनुच्छेद लागू नहीं होगा। और, जैसा कि हम पहले ही इंगित कर चुके हैं, सातवीं अनुसूची– जिसमें तीन विधायी सूचियाँ शामिल हैं उस समय तक इस राज्य पर विस्तारित नहीं की गई थी। और इसलिए, यह कहना असंभव है कि पिछली विधि के अंतर्गत आने वाला विषय, समवर्ती सूची में गिनाए गए विषयों में से एक है। यही कारण है कि अपीलकर्ता अनुच्छेद 254 का सहारा नहीं ले सकता। इस दृष्टिकोण को देखते हुए, यह विचार करना आवश्यक नहीं है कि अपीलकर्ता द्वारा इस अनुच्छेद की जो व्याख्या की जा रही है, वह अन्यथा सही है या नहीं।

इसका परिणाम यह है कि अधिनियम की वैधता के विरुद्ध अपीलकर्ता द्वारा प्रस्तुत किए गए सभी आधार विफल हो जाते हैं, और इसलिए यह माना जाना चाहिए कि उच्च न्यायालय का यह मत सही था कि वादी यह सिद्ध नहीं कर सका कि अधिनियम अपनी अधिकार-सीमा से बाहर (ultra vires) है। अतः, अपील असफल होती है और खर्च सहित खारिज की जाती है।

अपील खारिज की जाती है।

यह अनुवाद सुश्री लीना मुखर्जी, पैनल अनुवादक के द्वारा किया गया।